तित्थयर

पंचदश वर्ष : सितम्बर १९९१ : पंचम अंक

जैन भवन

आ. श्री
श्री महावीर
जि. गांधीनगर

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १५ : अंक ५

सितम्बर १९९१

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

सूची

सिद्धसेन दिवाकरकृत गुणद्वात्रिंशिका : एक विवेचन १३१

भारतीय वास्तु कला के विकास में जैनधर्म का योगदान १३६

भट्ट अकलंककृत लघीयस्त्रय १४४

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १५१

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या १५८

रामजी गन्धारिया का चौमुख मंदिर, शत्रुंजय

सिद्धसेन दिवाकर कृत

गुणद्वात्रिंशिका : एक विवेचन

डॉ० श्रीधर वासुदेव सोहोनी

[प्राचीन जैन वाङ्मय में सम्राट विक्रमादित्य के सम्बन्ध में, (जिसके अन्य बिरुद 'शकारि' और 'संवत्सर प्रवर्त्तक' भी थे), एक आदर्श श्रावक नृपति के रूप में अनेक उल्लेख मिलते हैं। कुछ ऐसे संदर्भों में, मुनि सिद्धसेन दिवाकर का नाम भी पाया जाता है—जैसे कि मेरुतुंग के प्रबन्ध चिंतामणि में (ई. स. १३०४) और राजशेखर सूरि के चतुर्विंशक प्रबंध या प्रबंधकोश में (ई. स. १३४८)। प्रबंधकोश में नरेश का नाम 'देवपाल' दिया गया है, यद्यपि प्रबंधचिंतामणि में, 'विक्रमादित्य' नाम ही पाया जाता है। यह ऐतिहासिक तथ्य सर्वश्रुत है कि सम्राट समुद्रगुप्त का द्वितीय पुत्र चन्द्रगुप्त का 'विक्रमादित्य' यह बिरुद विख्यात था तथा उसका प्रियनाम, 'देव' भी था।

मुनि सिद्धसेन दिवाकर एक अत्यंत प्रतिभावान् कवि थे और तर्क या न्यायशास्त्र के अतिविशारद पंडित थे। संस्कृत भाषा पर उनका विशेष प्रेम था, जिसके कारण कुछ अन्य आचार्यों के वे रोषभाजन भी हुए थे। उनकी अनेक द्वात्रिंशिका रचनाएं उपलब्ध हैं, जिनमें 'गुणद्वात्रिंशिका' नाम के एक रचना का, निम्नलिखित परिच्छेदों में, उसके श्लोकों में जो काव्यरस है उसकी किस प्रकार वृद्धि हो सकती है यह स्पष्ट कर दिया गया है।

मुनि सिद्धसेन दिवाकर के सम्बन्ध में अनेक प्राचीन और अर्वाचीन टीकाकारों ने अपने-अपने अभिप्राय, प्रसंग वशात् या स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रगट किये हैं। वर्तमान शतक में इस विषय पर विपुल चर्चा हो चुकी है। विशेषतः ग्वालियर दरबार के ई. स. १९४८ में विक्रम द्विसहस्राब्दि के निमित्त प्रकाशित ग्रन्थों में, मुनि सिद्धसेन दिवाकर के बारे में अनेक लेख पाये जाते हैं। उनमें, ख्यात नाम विदुषी डॉ० शार्लोटे क्रौसे का एक विस्तृत विवेचन 'गुणद्वात्रिंशिका' पर है, जिसमें उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि गुप्त साम्राज्य के संस्थापक सम्राट समुद्रगुप्त 'गुणद्वात्रिंशिका' काव्य में सम्बोधित नरेश है। डॉ० क्रौसे के इस निष्कर्ष का खण्डन डॉ० हीरालाल जैन ने अपने एक विस्तृत लेख में (मध्यभारती के अंक में जुलाई १९६२) किया है। उनका यह अभिप्राय था कि संबंधित नरेश, सम्राट समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ही था।

मैंने स्वतन्त्ररूपेण 'गुणद्वात्रिंशिका' की एक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पार्श्वभूमिका विश्लेषण की है जिसे वर्तमान लेख प्रकाशित होने के पश्चात् प्रसिद्ध करने का मेरा संकल्प हैं। मुनि सिद्धसेन दिवाकर गुप्तयुग का एक अनुपम व्यक्तित्व था। इन दो लेखों को देखने के पश्चात् इस संबंध में तनिक भी संदेह नहीं रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। --लेखक]

समानपुरुषस्य तावदपवादयन् कीदृशः
किमेव तु महात्मनामपरतन्त्रधी चक्षुषाम्।
अपास्य विनयस्मृती भुवि यशः स्वयङ्कुर्वता
त्वयाति गुणवत्सलेन गुरवः परं व्यंसिताः ॥१॥

इस श्लोक का वर्तमान रूप में कोई युक्तिसंगत अर्थ नहीं निकलता। वाक्ययोजना भी अधूरी और असंगत है। अतः यह निश्चित है कि इसके वर्तमान पाठ में कहीं न कहीं त्रुटि है। जिन विद्वानों ने इस पर शोध-कार्य किया है, उन्होंने इस श्लोक की वाक्य-रचना और शब्द योजना पर कोई ध्यान न देकर खींच-तान कर कुछ अर्थ कर दिया है, जो न तो तर्कसंगत प्रतीत होता है और न बुद्धिगम्य। मेरी समझ से इसका शुद्ध और सार्थक पाठ इस प्रकार होना चाहिये :

समानपुरुषस्य तावदपवारयन् विद्विषः
किमेव तु महात्मनामपरतन्त्रधीचक्षुषाम्।
अपास्य विजयस्मृतिं भुवि यशः स्वयं कुर्वता
त्वयातिगुणवत्सलेन गुरवः परे व्यंसिताः ॥

उपर्युक्त पाठ में निम्नरेखांकित चार पदों में थोड़ा सा परिवर्तन कर देने से इस श्लोक का अर्थ ठीक बैठ जाता है।

अन्वय : समानपुरुषस्य विद्विषः अपवारयन् तावत् (त्वमसि)। अपरतन्त्र-धीचक्षुषां महात्मनां तु किमेव? विजयस्मृतिम् अपास्य भुवि स्वयं यशः कुर्वता अतिगुणवत्सलेन त्वया गुरवः परे व्यंसिताः।

अर्थ : तुम साधारण लोगों के शत्रुओं को भी दूर करते हो। जो स्वतन्त्र विचारवाले ज्ञानी महात्मा लोग हैं, उनके विषय में क्या कहना? अर्थात् उनके शत्रुओं को तो तुम निश्चय ही दूर करते हो। (अपने पूर्वजों की) विजय की स्मृति को छोड़कर अर्थात् अपने पूर्वजों के विजय-इतिहास का सहारा न लेकर, गुणों को चाहनेवाले, संसार में अपनी कीर्ति स्वयं कायम करने वाले तुमने अपने बड़े-बड़े शत्रुओं को मात कर दिया—छल लिया।

टिप्पणी : इस श्लोक के प्रथम चरण में "अपवादयन्" और "कीदृशः" ये दोनों ही पद असंगत प्रतीत होते हैं। इन प्रथमान्त विशेषण-पदों का कोई विशेष्य नहीं है। 'अप' उपसर्गपूर्वक 'वद्' धातु से "शतृ" प्रत्यय करने पर, "अपवदन्" रूप होगा न कि "अपवादयन्"। भ्वादिगणीय 'वद्' धातु का अर्थ है स्पष्ट बोलना। चुरादिगणीय 'वद्' धातु का अर्थ है सन्देश सुनाना। (वद् व्यक्तायां वाचि—भ्वादिः, वद् सन्देश वचने—चुरादिः।) भ्वादिका रूप 'वदति' और चुरादि का 'वादयति' होता है। 'वादयति' का अर्थ 'बजाना' भी होता है। 'अप' उपसर्ग का अर्थ होता है खराब, बुरा, कुत्सित। अतः 'अपवादयति' का अर्थ होगा खराब बजाना। इस अर्थ की कोई संगति यहाँ नहीं होती है। यदि 'अपवाद' शब्द से नाम धातु बनाकर 'शतृ' प्रत्यय किया जाय तो 'अपवादयन्' पद सिद्ध होगा किन्तु उसका अर्थ होगा 'निन्दा करते हुए'। यह अर्थ भी यहाँ संगत नहीं होता। यदि 'अपवाद' का अर्थ व्याकरण शास्त्र का अर्थ exception माना जाय तो यह केवल व्याकरण मात्र में ही रूढ़ है। साहित्यिक प्रयोग या कोष में इसका प्रयोग नहीं मिलता। अमरकोष में 'अपवाद' शब्द का अर्थ इस प्रकार है :

"अवर्णाक्षेपनिर्वादपरीवादापवादवत्।
उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सानिन्दा च गर्हणे॥"—प्रथम काण्ड

पुनः "अपवादौ तु निन्दाऽऽज्ञे।" —तृतीय काण्ड, नानार्थ वर्ग

मेदिनी कोष और हैम कोष में अपवाद का अर्थ है :

"अपवादस्तु निन्दायामाज्ञाविश्रंभयोरपि।"

इस प्रकार 'अपवाद' शब्द का मुख्य और व्यावहारिक अर्थ, 'निन्दा' ही है। इस आधार पर यहाँ 'अपवादयन्' का कोई संगत अर्थ नहीं बैठता है। फलतः यह शब्द "अपवारयन्" होना चाहिये। नागरी लिपि में 'र' और 'द' में लिपि का बहुत साम्य है। अतः 'र' को 'द' मान लिया जाना संभव है। 'अपवारयन्' का अर्थ, 'अपसारयन', 'दूरीकुर्वन' होता है। यह अर्थ और पाठ दोनों ही संगत होते हैं।

इसी प्रकार प्रथम चरण का प्रश्नवाची विशेषण पद "कीदृशः" कोई संगत अर्थ नहीं रखता। न तो इसका कोई प्रथमान्त विशेष्य पद है और न प्रश्न की कोई संगति। अतः मेरी समझ में इसको "विद्विषः" होना चाहिए। इसका उपयुक्त अर्थ ऊपर में बताया जा चुका है।

द्वितीय चरण का अर्थ ठीक बैठ जाता है। उसमें भी "अपरतन्त्रधी" शब्द श्लेषात्मक है। 'पर' का अर्थ है 'अन्य'। अतः उससे नञ् समास करके

'अपर' हो सकता है। जिसका अर्थ होगा—('स्व' न परः = अपरः) किन्तु 'अपर' शब्द का अर्थ 'अन्य' भी है। (अपरः अन्यः।) वैसी स्थिति में 'स्वतन्त्र विचार वाले' के स्थान में 'परतन्त्र विचार वाले' यह अर्थ भी हो सकता है, जो सर्वथा विपरीतार्थक होगा।

तृतीय चरण में "विनयस्मृति" का भी कोई संगत अर्थ नहीं बैठता। 'विनय' और 'स्मृति' को 'अपास्य' छोड़कर ऐसा अर्थ कहीं संगत नहीं होता। इतने बड़े आदर्श राजा 'विनय' नम्रता को क्यों छोड़ेंगे? "विद्या ददाति विनयम्।" यदि उनके पास विद्या थी तो नम्रता विनय भी अवश्य ही होगी। दूसरी बात विचारणीय यह है कि द्वन्द्व समास में स्त्रीलिंग वाची शब्द का पूर्वनिपात होता है। अर्थात् उसी का पहले प्रयोग होता है यथा—सीता च रामश्च=सीतारामौ। पार्वती परमेश्वरौ। किन्तु यहाँ 'विनयश्च स्मृतिश्च' 'विनयस्मृती' में 'स्मृति' का परनिपात किया गया है, जो उचित नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से इसको "स्मृतिविनयौ" होना चाहिये। अतः मेरी समझ में यहाँ भी पाठ की विकलता है। इसको "विजय-स्मृतिं" होना चाहिये। नागरी लिपि में 'ज' और 'न' की लिखावट में बहुत कम अन्तर होता है। फिर यहाँ द्वन्द्व समास नहीं बल्कि षष्ठी तत्पुरुष समास है। "विजयस्य स्मृतिः।" 'स्मृति' की जगह 'स्मृती' तो द्वन्द्व समास होने पर द्विवचन बनाने के लिए शायद कर दिया गया है। 'स्मृतिं' और 'स्मृती' दोनों में तुल्य मात्रायें हैं। अतः छन्दोभङ्ग भी नहीं होता है। इस प्रकार "विजयस्मृतिं"। 'अपास्य' का अर्थ होगा—पूर्वजों की विजय की स्मृति को छोड़कर। अर्थात् अपने पूर्वजों की विजय को ही केवल स्मरण कर उन्होंने अपना यश नहीं कायम रखा बल्कि पुराने इतिहासों को छोड़कर अपना यश स्वयं फैलाया और कायम किया।

चतुर्थ चरण में 'परं' के स्थान में 'परे' होना चाहिये। अनुस्वार और एकार लिखने में छोटे बड़े होने पर एक से लगते हैं। अन्य विद्वानों ने जो 'गुरवः' और 'परं' का अर्थ किया है वह भी उपयुक्त नहीं जंचता। अपने पूर्वजों को ठगना या तिरस्कृत करना तो कोई अच्छी बात नहीं कही जा सकती। अतः यहाँ 'गुरवः' का अर्थ है 'महान्तः' और 'परे' का अर्थ है—"शत्रवः"। 'गुरु' शब्द का अर्थ मेदिनी कोष ने यों किया है :

"गुरुस्त्रिलिङ्ग्यां महति दुर्जराऽलघुनोरपि"।

अतः "गुरवः परे" का अर्थ हुआ "महान्तः शत्रवः"।

तब "गुरवः परे व्यंसिताः" का अर्थ होगा "बड़े-बड़े शत्रुओं को ठगा—समाप्त किया।

इस प्रकार इस प्रथम श्लोक में चार स्थानों में पाठ भेद करने से इस श्लोक का अर्थ ठीक बैठता है अन्यथा यह सम्पूर्ण श्लोक ही निरर्थक हो जाता है।

श्रीराश्रितेषु विनयाभ्युदयः सुतेषु
बुद्धिर्नयेषु रिपुवासगृहेषु तेजः।
वक्तुं यथायमुदितप्रतिभो जनस्ते
कीर्तिं तथा वदतु तावदिहेति कश्चित् ॥२॥

अन्वय : अयमुदितप्रतिभः जनः वक्तुं (शक्तः यत्) ते आश्रितेषु श्रीः, सुतेषु विनयाभ्युदयः, नयेषु बुद्धिः, रिपुवासगृहेषु तेजः यथा (अस्ति) तथा कश्चित् (तव) कीर्तिं तावत् इह वदतु।

अर्थ : (मैं) प्रतिभा-सम्पन्न यह कह सकता हूँ कि तुम्हारे आश्रितों की जैसी सम्पत्ति, पुत्रों में नम्रता और अभ्युदय, न्याय में बुद्धि और शत्रुओं के घरों में तेज जैसा है वैसा कोई दूसरा व्यक्ति तुम्हारी कीर्ति का वर्णन तो करे—अर्थात् ऐसा करना कठिन है।

एकां दिशं व्रजति यत् गतिमद् गतं च
तत्रस्थमेव च विभाति दिगन्तरेषु।
यातं कथं दशदिगन्त विभक्तमूर्ति
युज्येत वक्तुमुत वा न गतं यशस्ते ॥३॥

अन्वय : ते यशः एकां दिशं व्रजति, यत् गतिमत्, गतं च (यशः) तत्रस्थमेव दिगन्तरेषु च विभाति। दशदिगन्तविभक्तमूर्ति (यशः) कथं यातं वा न गतं वक्तुं युज्येत।

अर्थ : गतिमान् तुम्हारा यश एक दिशा में जाता है और वहाँ जाकर वहीं पर रहते हुए भी अन्य दिशाओं में भी सुशोभित होता है। दशों दिशाओं में फैले हुए इस प्रकार के तुम्हारे यश को गया हुआ कहना या नहीं गया हुआ कहना उचित नहीं है। अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त है।

सत्यं गुणेषु पुरुषस्य मनोरथोऽपि
श्लाघ्यः सतां ननु यथा व्यसनं तथैतत्।
यत्पश्यतः समुदितैरबलैरुपास्ता
कीर्तिस्तथा श्रुति सुखानि वनानि याता ॥४॥

अन्वय : यथा पुरुषस्य गुणेषु मनोरथोऽपिश्लाघ्यः सतां (कृते) एतत् तथा ननु व्यसनम् । यत् पश्यतः समुदितैः (गुणैः) (तव) कीर्तिः अबला इति (कृत्वा) तथा उपास्ता (यथा) (सा) श्रुतिसुखानिभुवनानि याता ।

अर्थ : गुणों के लिए मनुष्य को मनोरथ करना सचमुच प्रशंसनीय है। किन्तु सज्जनों के लिए तो यह एक व्यसन जैसा हो जाता है। जिसको देखते हुए सभी गुणों ने मिलकर तुम्हारी अबला रूपी कीर्ति को निकाल दिया जो निकाली गयी जंगलों में चली गयी जहाँ शब्दों का सुनना आसान है। (अभिप्राय यह है कि तुम सज्जन हो और तुम में इतने गुण हैं, कि उन सबों के कारण तुम्हारी कीर्ति केवल लोगों में ही नहीं फैली है, बल्कि जंगलों तक में फैल गयी है।

एतद् भो वृहदुच्यते हसतु मा कामं जनो दक्षिणः
स्वार्थारम्भपटुः परार्थविमुखो लज्जानपेक्षो भवान् ।
योऽन्यक्लेसमर्जितान्यपि यशांस्युत्सार्य लक्ष्मीपथा
कीर्त्येकार्णववर्षिणापि यशसा नाद्यापि संतुष्यसे ।।५।।

अन्वय : भोः, एतद् बृहद् (मया) उच्यते। दक्षिणः जनः कामं मा हसतु। भवान् स्वार्थारंभपटुः, परार्थविमुखः, लज्जानपेक्षः (अस्ति) यः (भवान्) अन्यक्लेशसमर्जितानि अपि यशांसि उत्सार्य लक्ष्मीपथो कीर्त्येकार्णववर्षिणा अपि यशसा अद्यापि न सन्तुष्यसे ।

अर्थ : हे राजन्, (सुनिये मैं) एक बड़ी बात कह रहा हूँ। (यह सुन कर) चतुर लोग काफी (मेरी) हँसी नहीं उड़ावें। आप अपने स्वार्थ के साधन में चतुर हैं, परार्थ से विमुख हैं और आपको लज्जा भी नहीं है। (क्योंकि) आप, अति कष्ट से उपार्जित किये गये दूसरों के यश को अपनी दानशीलता के द्वारा समाप्त कर, कीर्तिरुपी एक समुद्र को बरसाने वाले (अपने) यश से, आज भी सन्तुष्ट नहीं हैं। (इसमें व्याज स्तुति है। निन्दा के द्वारा स्तुति की गयी है। इसीलिये कवि ने कहा है कि चतुर लोग हँसें नहीं।)

टिप्पणी : इस श्लोक का अन्तिम क्रिया पद 'सन्तुष्यसे' व्याकरण के विचार से उपयुक्त नहीं जँचता है। प्रथम बात तो यह है कि इस श्लोक में "भवान्" शब्द का प्रयोग हुआ है। "त्वम्" का प्रयोग कहीं नहीं है। अतः सर्वनाम 'भवान्' को ही 'सन्तुष्यसे' क्रिया का कर्ता मानना होगा। 'भवान्'

यद्यपि मध्यमपुरुष का सर्वनाम है, किन्तु 'भवान्' के साथ मध्यमपुरुष की क्रिया का प्रयोग नहीं होता। 'भवान्' के साथ अन्यपुरुष की ही क्रिया का प्रयोग होता है। यहाँ मध्यमपुरुष की क्रिया का प्रयोग अनुचित है। दूसरी बात यह है कि दिवादिगणीय 'तुष्' धातु परस्मैपदी है। यहाँ आत्मनेपदी के रूप में प्रयोग किया गया है। यह भी उचित नहीं है। अतः मेरी समझ से "सन्तुष्यसे" के स्थान में "सन्तुष्यति" होना चाहिये। यह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होगा और छन्दो भङ्ग भी नहीं होगा क्योंकि चरण के अन्त का ह्रस्व भी दीर्घ माना जाता है।

चाटुप्रीतेन मुक्ता यदियमगणिता दीयते राजलक्ष्मी-
रन्योन्येभ्यो नृपेभ्यस्त्वदुरसि नृपते यापि विश्रम्भलीना।
मा भूदेश प्रसङ्गो निरनुनयमतेरस्य मय्यप्यतस्ते
कीर्तिस्तेनाप्रमेया न विनयचकिता सागरानप्यतीता ॥६॥

अन्वय : (हे) नृपते, त्वद् उरसि विश्रंभलीना अगणिता यद् इयं राजलक्ष्मीः चाटुप्रीतेन (त्वया) अन्योन्येभ्यः नृपेभ्यः दीयते (अतः) एष प्रसंगः अस्य निरनुनयमतेः (नृपस्य) मयि अपि माभूत्, तेन नवनयचकिता ते कीर्तिः अप्रमेयान् सागरान् अपि अतीता।

अर्थ : हे राजन्, तुम्हारी गोद में विश्वासपूर्वक लिपटी हुई अगणित राजलक्ष्मी को तुम खुशामद से खुश होकर दूसरे-दूसरे राजाओं को दे देते हो। (इसलिये) इस अविनयी राजा का यह व्यवहार मेरे साथ भी न हो (इस भय से) तुम्हारी नयी इस नीति से चकित होकर तुम्हारी अतुल कीर्ति समुद्रों के पार भाग गयी। अर्थात् जब तुम गोद में लेटी हुई लक्ष्मी को निर्दयता पूर्वक दूसरों को दे सकते हो तो कहीं मुझ, अपनी कीर्ति को भी दूसरों को न दे दो उसी डर से तुम्हारी कीर्ति समुद्रों के पार भाग गयी। (तुम्हारी कीर्ति समुद्रों के पार में भी फैली हुई है।)

टिप्पणी : इस श्लोक के चतुर्थ चरण में "न विनयचकिता" का कोई अर्थ संगत नहीं होता। अतः मेरी समझ से उसको "नवनयचकिता" होना चाहिये। नव—नयी, नय—नीति से चकित होकर, यह अर्थ संगत होता है। पुरानी नीति तो यह है कि जो कोई किसी के आश्रय में विश्वासपूर्वक रहता है, उसको—आश्रित को, कोई त्यागता नहीं है, उसकी रक्षा करता है। किन्तु यह तो नयी नीति है कि जो विश्वास पूर्वक किसी के आश्रय में हो,

उसको आश्रयदाता ही त्याग दे। यह नयी नीति हुई, इसीसे कीर्ति भी चकित हो गयी। अतः 'नवनयचकिता' यही पाठ समीचीन प्रतीत होता है।

अवश्यं कर्तव्यः श्रियमभिलषता पक्षपातो गुणेषु
प्रसन्नायां तस्यां कथमिव च न ते लालनीया भवेयुः।
किमेषां वृत्तान्तं न नृपते लालनीया त्वदाज्ञा
महेन्द्रादीनां यद् गुणपरितुलतादुर्विनीता गुणास्ते ॥७॥

अन्वय : श्रियमभिलषता गणेषु पक्षपातः अवश्यं कर्तव्यः। तस्यां प्रसन्नायां ते (गुणाः) लालनीयाः कथमिव न भवेयुः? (हे) नृपते, किम् एषां (गुणनां) वृत्तान्तं न वहसि? त्वत् आज्ञा लालनीया। यत् महेन्द्रादीनां गुणपरितुलनात् ते गुणाः दुर्विनीताः (जाताः)।

अर्थ : लक्ष्मी की अभिलाषा करने वालों को गुणों पर पक्षपात अवश्य करना चाहिए। (फिर) लक्ष्मी के प्रसन्न हो जाने पर (प्राप्त हो जाने पर) उन गुणों को क्यों नहीं प्यार किया जाय? अर्थात् अवश्य किया जाय किन्तु हे राजन्, क्या तुम उन गुणों की कार्यवाही को जानते हो? तुम्हारी आज्ञा (यद्यपि) प्यारी है, किन्तु ये तुम्हारे गुण देवराज इन्द्र आदि के गुणों से तुलना करने के कारण उद्दण्ड हो गये हैं। (अभिप्राय यह है कि तुमने गुणों के साथ पक्षपात किया सो ठीक है। उससे तुमको लक्ष्मी भी प्राप्त हो गयी। किन्तु वे तुम्हारे गुण इतने उद्दण्ड हो गये हैं कि महेन्द्र आदि देवताओं के गुणों के साथ अपनी तुलना करने लगे हैं। तुम्हारे गुण देवताओं के गुणों से भी कहीं अधिक हैं। अतः उनसे तुलना करने में तुम्हारी शिकायत ही है।)

[क्रमशः

भारतीय वास्तु कला के विकास में जैनधर्म का योगदान

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

भारत में जैन धर्म के विकास की जानकारी के लिए प्राचीन जैन मन्दिरों तथा मूर्तियों का ज्ञान बहुत जरूरी है। जैन धर्म के प्रसार के लिए यह आवश्यक था कि देश के विभिन्न भागों में मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण किया जाता। उनके माध्यम से जैन धर्म को जनसाधारण में फैलाने में बड़ी सहायता मिली। भारतीय ललित कला के इतिहास पर भी जैन स्मारकों तथा कलाकृतियों से बड़ा प्रकाश पड़ा है।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीरस्वामी थे। उनकी तथा उनके पहले के अनेक तीर्थंकरों की जन्मभूमि तथा कार्यक्षेत्र होने का गौरव बिहार के मगध प्रदेश को प्राप्त हुआ। वैदिक धर्म की मान्यताओं के प्रति अनास्था का बीजारोपण भारत में मुख्यतः मगध में हुआ। उस क्षेत्र में जैन, बौद्ध, आजीविक आदि अनेक संप्रदायों का उदय तथा विकास हुआ। पाटलिपुत्र, राजगृह तथा उसके आस-पास का भूभाग इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। धीरे-धीरे जैन तथा बौद्ध विचारधाराओं ने सुसंगठित धर्मों का रूप प्राप्त कर लिया और उनका व्यापक प्रसार मगध के बाहर भी हुआ।

भारतीय स्थापत्य का ऐतिहासिक विवेचन करने से ज्ञात होता है कि जैन देवालयों का निर्माण मौर्य शासनकाल में होने लगा था। बिहार में गया के समीप बराबर नामक पर्वत-गुफाओं में कई शिलालेख मिले हैं। उनसे ज्ञात हुआ है कि मौर्य सम्राट अशोक ने आजीविक सम्प्रदाय के सन्यासियों के लिए शैलगृहों का निर्माण कराया। उसके वंशज दशरथ नामक शासक ने भी इस कार्य को आगे बढ़ाया। आजीविक सम्प्रदाय के प्रारम्भ कर्ता आचार्य तीर्थंकर महावीर के समकालीन थे। बराबर पहाड़ी से कुछ दूर नागार्जुनी नामक पहाड़ी है। वहाँ भी मौर्यकाल में साधुओं के निवास के लिए कई शैलगृह बनाये गये। भारतीय साहित्य में पर्णशालाओं के उल्लेख मिलते हैं। उन्हीं के ढंग पर इन शैल-गृहों का निर्माण किया गया। जैन साधुओं के लिए शैलगृह बनाने के उदाहरण तमिलनाडु में भी मिले हैं।

ईसवी पूर्व दूसरी और पहली शती में उड़ीसा तथा पश्चिमी भारत में पर्वतों को काटकर देवालय बनाने की परम्परा विकसित हुई। उड़ीसा में भुवनेश्वर के समीप कई बड़ी गुफाएँ पत्थर की चट्टानों को काटकर बनाई

गई। यहाँ खण्डगिरि तथा उदयगिरि नामक जैन गुफाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। तीसरी गुफा का नाम हाथीगुंफा है। उसमें कलिंग के जैन शासक खारवेल का एक शिलालेख खुदा हुआ है। लेख से ज्ञात हुआ है कि ईसवीपूर्व चौथी शती में मगध के राजा महापद्मनन्द तीर्थंकर की एक मूर्ति कलिंग से अपनी राजधानी पाटलिपुत्र उठा ले गये थे। खारवेल ने ईसवी पूर्व दूसरी शती के मध्य में उस प्रतिमा को मगध से अपने राज्य में लौटाकर पुनः प्रतिष्ठापित किया। इस शिलालेख से पता चलता है कि तीर्थंकर मूर्तियों का निर्माण नंदराज महापद्मनन्द के पहले प्रारम्भ हो चुका था। जैन साहित्यिक अनुश्रुति से भी पता चलता है कि चन्दन की तीर्थंकर मूर्तियाँ भगवान महावीर के समय से या उनके निर्वाण के पश्चात् ही बनने लगी थी।

उत्तर भारत में जैन कला के जितने प्राचीन केन्द्र थे उनमें मथुरा का स्थान महत्वपूर्ण है। मौर्यकाल से लेकर आगामी लगभग सोलह शताब्दियों से ऊपर के दीर्घकाल में मथुरा में जैनधर्म का विकास होता रहा। वहाँ के चित्तीदार लाल बलुए पत्थर की बनी हुई कई हजार जैन कलाकृतियाँ अब मथुरा और उसके आसपास के जिलों से प्राप्त हो चुकी हैं। इनमें तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त चौकोर 'आयागपट', वेदिका, स्तम्भ, तोरण तथा द्वार-स्तम्भ आदि हैं। मथुरा के जैन आयागपट (पूजा के शिलाखण्ड) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन पर प्रायः बीच में तीर्थंकर मूर्ति तथा उनके चारों ओर विविध प्रकार के मनोहर अलंकार मिलते हैं। स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, भद्रासन, दर्पण, कलश और मीन युगल इन अष्टमंगल द्रव्यों का आयागपट्टों पर सुन्दरता के साथ चित्रण किया गया है। एक आयागपट्ट पर आठ दिक्कुमारियाँ एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए आकर्षक ढंग से मण्डल नृत्य में संलग्न दिखाई गई हैं। मण्डल या 'चक्रवाल' अभिनय का उल्लेख 'रायपसेनियसूत्र' नामक जैन ग्रन्थ में भी मिलता है। एक-दूसरे आयागपट्ट पर तोरणद्वार तथा वेदिका का अत्यन्त सुन्दर अंकन है। वास्तव में ये आयागपट्ट प्राचीन जैन कला के उत्कृष्ट उदाहरण है। इनमें से अधिकांश अभिलिखित हैं, उन पर ब्राह्मी लिपि में लगभग ई० पू० एक सौ से लेकर ईसवी प्रथम शती के मध्य तक के लेख हैं।

पश्चिमी भारत, मध्य भारत तथा दक्षिण में पर्वतों को काटकर जैन देवालय बनाने की परम्परा दीर्घ काल तक मिलती है। विदिशा के समीप उदयगिरि की पहाड़ी में दो जैन गुफाएँ हैं। संख्या एक की गुफा में गुप्तकालीन जैन मन्दिर के अवशेष उपलब्ध हैं। उदयगिरि की संख्या २०

वाली गुफा भी जैन मन्दिर है। उसमें गुप्तसम्राट कुमारगुप्त प्रथम के समय में निर्मित कलापूर्ण तीर्थंकर प्रतिमा मिली है।

गुजरात, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक में पर्वतों को काटकर बनाये गये अनेक मन्दिर विद्यमान हैं। बादामी के चालुक्य राजवंश तथा मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजवंश के शासनकाल में शिलाओं को काटकर मन्दिर स्थापत्य बनाने की परम्परा बहुत विकसित हुई। ईसवी ५५० और ८०० के मध्य में कर्नाटक में बादामी, पट्टदकल तथा ऐहोले में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें से कई मन्दिर शिलाओं को काटकर बनाये गये। शेष समतल भूमि पर पत्थरों द्वारा बनाये गये। भारतीय स्थापत्य कला के विकास के अध्ययन हेतु कर्नाटक के इन मन्दिरों का विशेष महत्व है। उत्तर भारत में 'नागर शैली' के मन्दिर बनाये जाते थे, जिनका मुख्य लक्षण ऊँचा शिखर था। चालुक्यों के समय में कर्नाटक के अनेक मन्दिर 'वेसर शैली' के बनाये गये। इस शैली की विशेषता यह है कि उसमें उत्तर भारत की शिखर प्रणाली तथा दक्षिण की विमान-शैली का सम्मिश्रण है।

दक्षिण भारत का मन्दिर-वास्तु 'द्रविड़-शैली' के नाम से प्रसिद्ध है। चालुक्यों के समय में कर्नाटक में निर्मित अनेक मन्दिरों में द्रविड़ स्थापत्य का रूप मिलता है। बादामी पर्वत को काटकर बनाया गया एक विशाल जैन मन्दिर उल्लेखनीय है। इस मन्दिर में विभिन्न अलंकरणों को तथा जैन देवी देवताओं की प्रतिमाओं को प्रभाव पूर्ण ढंग से प्रदर्शित किया गया है। बादामी तथा पट्टदकल के अनेक जैन मन्दिर अठपहल शीर्ष वाले हैं। द्रविड़ स्थापत्य की यह एक विशेषता है। कर्णाटक के कुछ मन्दिरों में नागर-शैली वाले उच्च शिखर हैं। ऐहोले में एक मन्दिर में भारत की तीनों मन्दिर शैलियों का समन्वय दृष्टिगोचर है।

राष्ट्रकूटों के शासनकाल में ऐलोरा का प्रख्यात शिवमन्दिर एक विशाल पर्वत को काटकर बनाया गया है। इस मन्दिर का अलंकरण तथा मूर्तिविधान अत्यन्त कलापूर्ण है। इस मन्दिर के अनुकरण पर ऐलोरा में कई जैन मन्दिरों का निर्माण किया गया। वहाँ इन्द्रसभा नामक जैन प्रासाद विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसका निर्माण लगभग ८०० ईसवी में हुआ। चट्टान को काटकर बनाए गये दरवाजे से इस प्रासाद में प्रवेश करते हैं। प्रासाद का प्रांगण ५० फुट वर्गाकार है। प्रांगण के मध्य में एकाश्म या इकहरे पत्थर का बना हुआ द्रविड़ शैली का मन्दिर है। पास में ऊँचा 'ध्वज-स्तम्भ' है। जैन

मन्दिर में ध्वज-स्तम्भ बनाने की परम्परा दीर्घकाल तक मिलती है। उत्तर तथा दक्षिण भारत के मन्दिरों में इस प्रकार के ध्वज-स्तम्भ दर्शनीय हैं। कपितय ध्वज-स्तम्भों को चाँदी या सोने से मढ़ दिया जाता था।

जैन मन्दिर स्थापत्य का दूसरा रूप 'भूमिज मन्दिरों' में मिलता है। इन मन्दिरों का निर्माण प्रायः समतल भूमि पर पत्थर और ईंटों द्वारा किया जाता था। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, बंगाल और मध्य प्रदेश में समतल भूमि पर बनाये गये जैन मन्दिर की संख्या बहुत बड़ी है। कभी-कभी ये मन्दिर जैन स्तूपों के साथ बनाये जाते थे।

जैन स्तूपों के सम्बन्ध में प्रचुर साहित्यिक तथा अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हैं। उनसे ज्ञात होता है कि अनेक प्रचीन स्थलों पर उनका निर्माण हुआ। मथुरा, कौशाम्बी आदि कई स्थानों में प्रचीन जैन स्तूपों के भी अवशेष मिले हैं। उनसे यह वात स्पष्ट है कि इन स्तूपों का निर्माण ईसवी पूर्व दूसरी शती से व्यवस्थित रूप में होने लगा था। प्रारम्भिक स्तूप अर्धवृत्ताकार होते थे। उनके चारों ओर पत्थर का बाड़ा बनाया जाता था। उसे 'वेदिका' कहते थे। वेदिका के स्तम्भों पर आकर्षण मुद्राओं में स्त्रियों की मूर्तियों को विशेषरूप से अंकित करना प्रशस्त माना जाता था। गुप्त-काल से जैन स्तूपों का आकार लम्बोतरा होता गया। बौद्ध स्तूपों की तरह जैन स्तूप भी परवर्तीकाल में अधिक ऊँचे आकार के बनाये जाने लगे।

मध्यकाल मैं जैन मन्दिरों का निर्माण व्यापक रूप में होने लगा। भारत के सभी भागों में विविध प्रतिमाओं से अलंकृत जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस कार्य में विभिन्न राजवंशों के अतिरिक्त व्यापारी वर्ग तथा जनसाधारण ने भी प्रभूत योग दिया।

चन्देलों के समय में खजुराहो में निर्मित जैन मन्दिर प्रसिद्ध हैं। इन मन्दिरों के बहिर्भाग एक विशिष्ट शैली में उकेरे गये हैं। मन्दिरों के बाहरी भागों पर समान्तर अलंकरण पट्टिकाएँ उत्खचित हैं। उनमें देवी-देवताओं तथा मानव और प्रकृतिजगत को अत्यन्त सजीवता के साथ आलेखित किया गया है। खजुराहों के जैन मन्दिरों में पार्श्वनाथ मन्दिर अत्यधिक विशाल हैं। उसकी ऊँचाई ६८ फुट है। मन्दिर के भीतर का भाग महामण्डप, अन्तराल तथा गर्भगृह इन तीन मुख्य भागों में विभक्त है। उनके चारों ओर प्रदक्षिणा-मार्ग है। इस मन्दिर की छत का कटाव विशेष कलात्मक है और खजुराहों के स्थापत्य विशेषज्ञों की दक्षता का परिचायक है। मन्दिर के

प्रवेशद्वार पर गरुड़ पर दसभुजी जैन देवी आरूढ़ हैं। गर्भगृह की द्वारशाखा पर पद्मासन तथा खड्गासन में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उकेरी गयी हैं। खजुराहो के इन मन्दिरों में विविध आकर्षक मुद्राओं में सुर-सुन्दरियों या अप्सराओं की भी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इन मूर्तियों में देवांगनाओं के अंग प्रत्यंग के चारु-विन्यास तथा उनकी भावभंगिमाएँ विशेषरूप से दर्शनीय हैं। खजुराहो का दूसरा मुख्य जैन मन्दिर आदिनाथ का है। इसका स्थापत्य पार्श्वनाथ मन्दिर के समान है।

विदिशा जिले के ग्यारसपुर नामक स्थान में मालादेवी मन्दिर है। उसके बहिर्भाग की सज्जा तथा गर्भगृह की विशाल प्रतिमाएँ कलात्मक अभिरुचि की द्योतक हैं। मध्य भारत में मध्यकाल में ग्वालियर, देवगढ़, चन्देरी, अजयगढ़, अहार आदि स्थानों में स्थापत्य तथा मूर्तिकला का प्रचुर विकास हुआ।

राजस्थान में ओसिया, राणकपुर, सादरी, आबू पर्वत आदि अनेक स्थानों में जैन स्थापत्य के अनेक उत्तम उदाहरण विद्यमान है। उनमें भव्यता के साथ कलात्मक अभिरुचि का सामंजस्य है। आबू पर्वत के जैन स्मारकों में संगमर्मर का अत्यन्त बारीक कटाव दृष्टव्य है। उत्तर मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य का रोचक स्वरूप यहाँ देखने को मिलता है।

गुजरात, कर्नाटक तथा आंध्र प्रदेश के अनेक भागों में मध्यकालीन जैन स्थापत्य का विकास द्रष्टव्व है। दक्षिण में विजयनगर राज्य के समय तक स्थापत्य और मूर्तिकला का विकास साथ-साथ होता रहा।

जैन स्थापत्य कला का प्राचुर्य 'देवालय-नगरों' में देखने को मिलता है। ऐसे स्थलों पर सैकड़ों मन्दिर पास-पास बने हुए हैं।

गिरनार, शत्रुंजय, आबू, पपौरा, अहार, थूबोन, कुण्डलपुर, सोनागिरि आदि अनेक स्थलों पर जैन मन्दिर-नगर विद्यमान हैं। ऐसे मन्दिर-नगरों के लिए पर्वत-शृंखलाएँ विशेष रूप से चुनी गयीं।

आधुनिक युग में जैन स्थापत्य की परम्परा जारी मिलती है। वास्तु के अनेक प्राचीन लक्षणों को आधुनिक कला में भी हम रूपायित पाते हैं। भारतीय संस्कृति तथा ललितकलाओं के इतिहास के अध्ययन में जैन स्थापत्य कला का निस्संदेह महत्वपूर्ण स्थान है।

भट्ट अकलंककृत लघीयस्त्रय

एक दार्शनिक अध्ययन

हेमन्तकुमार जैन

भट्ट अकलंक जैन न्याय और दर्शन के एक व्यवस्थापक आचार्य हैं। पूर्व परम्परा से प्राप्त जिस चिन्तन की दार्शनिक दृष्टि से अदम्य तार्किक समन्तभद्र और सिद्धसेन जैसे महान आचार्यों ने नींव के रूप में प्रतिष्ठापना की थी, उसी नींव के ऊपर सफलतार्किकचक्रचूड़ामणि भट्टअकलंक ने जैन न्याय और तर्कशास्त्र का अभेद्य और चिरस्थायी प्रासाद खड़ा किया है। उन्होंने अपने समकालीन विकसित दर्शनान्तरीय विचारधाराओं के गहन अध्ययनपूर्वक अपने ग्रन्थों में उनकी विस्तृत समीक्षा करके सर्वप्रथम प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता आदि सभी पदार्थों का संस्कृत भाषा में अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण तार्किक शैली से उपस्थित किया और सूत्र-शैली में अत्यन्त गूढ़ ऐसे ग्रन्थों का सृजन किया, जो कमी उस समय जैन परम्परा में खल रही थी। बाद में भट्ट अकलंक के इन ग्रन्थों पर प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, वादिराज, अभयचन्द्र जैसे आचार्यों ने बृहद् भाष्य ग्रन्थ लिख डाले। अकलंक ने प्रमाण-परिभाषा, उसके फल, विषय, मुख्य प्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाणान्तर्गत अनुमानादि, जय-पराजय व्यवस्था, वाद कथा आदि को परिभाषित करके जैन न्याय को इतना व्यवस्थित और समृद्ध कर दिया था कि उनके बाद आज तक किसी को नवीन चिन्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी। ऐसे महान् दार्शनिक की कृतियों में से एक कृति "लघीयस्त्रय" के दार्शनिक विवेचन के रूप में लिखा गया यह शोध-प्रबन्ध मेरा एक प्रथम एवं लघु प्रयत्न है। इसमें लघीयस्त्रय के दार्शनिक पक्षों को स्पष्ट करने वाले आठ अध्याय रखे गये हैं, जिसका अध्याय क्रम से संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

अकलंक का व्यक्तित्व एवं कृतित्व इतना महान् था कि लोग उनके नाम को जिन का पर्याय समझने लगे थे। निःसन्देह इनकी कृतियों, शिला-लेखों, ग्रन्थान्तर सन्दर्भों, कथाओं आदि से उनके विराट व्यक्तित्व का पता चलता है। महान् शास्त्रार्थी और वाद-विजेता के रूप में चतुर्दिक उनकी ख्याति थी। यही कारण है कि वे जैन वाङ्मय में सफलतार्किकचक्रचूड़ामणि, तर्कभूवल्लभ, महर्द्धिक, तर्कशास्त्रवादीदसिंह, समदर्शी आदि विशेषणों से जाने जाते हैं।

प्रथम अध्याय के प्रथम परिच्छेद में उनके व्यक्तित्व से सम्बन्धित इन्हीं विशेषताओं पर शिलालेख आदि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर प्रकाश डाला गया है। जीवनवृत्त से सम्बन्धित "लघुहव्व" सन्दर्भ जो कि क्षेपक के रूप में प्रतीत होता है, उसकी अन्यत्र कहीं पुष्टि नहीं होती। कथाओं में भी उनका जीवनवृत्त प्राप्त होता है, पर इसकी अन्य किसी भी सन्दर्भ से प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। इसी तारतम्य में समीक्षक विद्वानों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर अकलंक के समय पर किये गये विचारों का पुनरीक्षण किया गया है। वह इसलिये आवश्यक हुआ कि कई विद्वानों ने अकलंक का समय बाद का निर्धारित करके उनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य के रूप में समन्तभद्र से जोड़कर जैन दर्शन के इतिहास में भ्रममूलक निष्कर्ष निकाले हैं, जो बिल्कुल निराधार हैं। इसका समाधान विभिन्न समयों में लिखे गये आचार्यों द्वारा अपने ग्रन्थों में अकलंक के नाम से एवं अकलंक की कृतियों के अन्तरंग परीक्षण से हो जाता है। समय-निर्धारण में "लघुहव्व" नामक कथाओं में आये "शुभतुंग" का प्रसंग आदि समीक्षकों के प्रधान सहायक रहे। जिनकी ऐतिहासिक राजाओं के समय से संगति बैठाकर विद्वानों ने समय निर्धारण के प्रयत्न किये हैं। सम्पूर्ण तथ्यों के अवलोकन के बाद यह सत्य प्रतीत होता है कि अकलंक का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिए। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के प्रथम परिच्छेद में अकलंक के जीवनवृत्त और समय का मूल सामग्री से मिलानकर पुनरीक्षण किया गया।

बीसवीं शताब्दी के महान् समालोचक विद्वान् स्व० डॉ० महेन्द्र कुमार जैन ने अकलंक की कृतियों का अंतरंग एवं बहिरंग रूप से गहन आलोडन किया है। यही नहीं, उन्होंने अगाध परिश्रमपूर्वक टीका ग्रन्थ से न्याय-विनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय जैसे ग्रन्थों को खोजकर उनका स्वयं सम्पादन किया और उनकी गवेषणापूर्ण भूमिकाएँ लिखीं। लघीयस्त्रयादिसंग्रह के रूप में समवेतरूप से अकलंक के तीन ग्रन्थों का भी सम्पादन किया और विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी। हम समझते हैं उनके बाद वैसे सम्पादन का दिगम्बर परम्परा में बिल्कुल ही अभाव सा हो गया। हम यह भी कह सकते हैं कि उनके बाद संस्कृत में लिखे गये अकलंक के ग्रन्थों का अर्थ न समझने वाले विद्वानों के लिए स्व० डॉ० जैन की कृतियाँ एवं विभिन्न ग्रन्थों में लिखी गयीं भूमिकाएँ अकलंक, जैन न्याय एवं दर्शन का हार्द समझने के लिये पर्याप्त हैं। प्रथम अध्याय के प्रस्तुत इस द्वितीय परिच्छेद में अकलंक के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय स्व० डॉ० जैन के अध्ययन के आधार पर तैयार किया

गया है। इसमें हमने यहाँ कोशिश की है कि उन कृतियों का वास्तविक परिमाण एवं कृतित्व का प्रमाण और अन्तरंग परिचय संक्षिप्त रूप में सामने आ जाये। इस अध्ययन में हमने देखा कि उनकी उपलब्ध कृतियाँ मात्र छह ही होती हैं, जिनका नामकरण अकलंक के परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया जान पड़ता है, क्योंकि उन ग्रन्थों का नाम अकलंक का दिया हुआ है, ऐसी सूचना उनके ग्रन्थों से प्राप्त नहीं होती।

उनकी सम्पूर्ण कृतियाँ भाष्य और स्वतन्त्र इन दो रूपों में प्राप्त होती हैं। उनकी कुछ स्वतन्त्र कृतियाँ ऐसी हैं, जिन पर उन्होंने स्वयं वृत्ति या भाष्य लिखा है। उनकी उपलब्ध प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—

१. तत्त्वार्थवार्तिक (वार्तिक एवं उस पर भाष्य)
२. अष्टशती (आप्तमीमांसालंकार, भाष्य)
३. लघीयस्त्रय (स्ववृत्ति)
४. न्यायविनिश्चय (स्ववृत्ति)
५. सिद्धिविनिश्चय (स्ववृत्ति)
६. प्रमाणसंग्रह

इन कृतियों के अतिरिक्त स्वरूपसंबोधन आदि और भी कृतियाँ हैं, जो उपलब्ध तो हैं परन्तु विवादग्रस्त मानी जाती हैं। अनुपलब्ध एवं विवादग्रस्त कृतियाँ बृहत्त्रय और न्यायचूलिका मानी जाती हैं। प्रस्तुत परिच्छेद में उपर्युक्त सभी कृतियों का अन्तरंग एवं बहिरंग परिचय संक्षेप में दिया गया है।

मेरा शोध का विषय "भट्टाकलंककृतलघीयस्त्रय : एक दार्शनिक विवेचन" होने के कारण परिच्छेद तृतीय में लघीयस्त्रय का विशेष परिचय दिया गया है। इसमें इसके वास्तविक परिमाण निर्धारित करने के साथ "लघीयस्त्रय" के रूप में ग्रंथ के नाम पर विशेष ऊहापोहपूर्वक विचार किया गया है। अन्तरंग विषय-वस्तु के परिचय के अन्तर्गत प्रवेश और परिच्छेद के क्रम से प्रमाण, नय और प्रवचन के सम्बन्ध में उनके विचारों को रखा गया है।

"प्रमाणमीमांसा की आगमिक परम्परा ज्ञानमीमांसा" नामक द्वितीय अध्याय के परिच्छेद प्रथम में तीर्थंकरों से लेकर अकलंक तक प्रमाण के आगमिक रूप, ज्ञान की चर्चा की गयी है। इसमें हम पाते हैं कि किस प्रकार प्रमाण के अभाव में ज्ञान से उसका कार्य किया जाता था। वस्तुतः परम्परागत सम्यक् और मिथ्या के रूप में ज्ञान का वर्गीकरण एक तरह से प्रमाण और

प्रमाणाभास के पूर्वरूप की सूचना देता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में, परम्परा से चले आये ज्ञान के इन दो भेदों को आधार मानकर ज्ञानों का किस प्रकार प्रमाणों में वर्गीकरण हुआ, इसका वर्णन प्रस्तुत अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में किया गया है। इनमें बताया गया है कि परम्परागत प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानो के आधार पर बाद के दार्शनिकों द्वारा उन्हें स्पष्टरूप में प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकार किया। आत्मसापेक्ष प्रत्यक्ष और इन्द्रिय एवं अनिन्द्रिय सापेक्ष परोक्ष के रूप में विभाजित उस ज्ञान गंगा की धारारूपी परम्परा कुन्दकुन्द तक अनवरत रूप से प्रवाहित होती रही, परन्तु ज्ञान को प्रमाण-रूप में स्वीकृति देने वाले उमास्वामी और उनके बाद के आचार्यों द्वारा अनिन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान को आत्मसापेक्ष ज्ञान के साथ संयुक्त कर लिया गया, बाद में यही प्रमाणों के वर्गीकरण का मुख्य आधार बन गया।

तत्पश्चात् प्रमाण की अनेक परिभाषाएँ दी गयीं और अकलंक ने ज्ञान को प्रमाण मानकर और उसमें अनधिगतार्थ, अविसंवादी और व्यवसायात्मक जैसे पदों का समावेश कर प्रमाण की एक अकाट्य परिभाषा दी। "प्रमाण-मीमांसा" नामक प्रस्तुत तृतीय अध्याय के परिच्छेद प्रथम में इसका ऐतिहासिक सन्दर्भ में मूल्यांकन किया गया है। इसी अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में दर्शनान्तर सम्मत प्रमुख प्रमाण परिभाषाओं की समीक्षा करके परिच्छेद तृतीय में प्रमाण के भेदों का भी विवेचन किया गया है।

"प्रत्यक्ष प्रमाण" नामक चतुर्थ अध्याय में मुख्य-प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के रूप ये दो परिच्छेद रखे गये हैं। इसमें सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप की विशदता का समालोचनात्मक दृष्टि से आकलन करते हुए उनके भेदों की चर्चा की गयी है। तत्पश्चात् मुख्य प्रत्यक्ष का स्वरूप एवं अतीन्द्रिय ज्ञान—केवलज्ञान के प्रतिपादनपूर्वक विभिन्न युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि सुनिश्चित रूप से सर्वज्ञ के अस्तित्व में बाधक प्रमाणों का अभाव होने से वह स्वयं ही सिद्ध है। "मुख्य प्रत्यक्ष" नामक इस परिच्छेद में उपर्युक्त चर्चा के साथ अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानों के संक्षिप्त स्वरूप का भी प्रतिपादन किया गया है।

"सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष" नामक इस अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में इसके स्वरूप और अवान्तर भेदों की चर्चा की गयी है। इसमें यह बताया गया है कि परम्परा से परोक्ष के रूप में स्वीकृत मतिज्ञान में किस प्रकार शब्दयोजना से पहले प्रत्यक्षत्व है। इसकी एवं इसके भेदों की सांव्यवाहारिक के भेद-इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समीक्षा की गयी है।

"परोक्ष प्रमाण की परिभाषा एवं भेद" नामक पंचम अध्याय के प्रथम परिच्छेद में ऐतिहासिक विवेचनपूर्वक यह दिखाया गया है कि शब्दयोजना होने पर स्मृति, संज्ञा, चिन्ता आदि परोक्ष क्यों हो जाते हैं। तत्पश्चात् द्वितीय परिच्छेद में स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन परोक्ष के पाँच भेदों की विस्तृत समीक्षा की गयी है, जिसमें इनके स्वरूप एवं अवान्तर भेदों के निरूपण के साथ दर्शनान्तरीय मतों की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है। इसमें इन प्रमाणों के मानने का आधार इनका स्वातंत्र्य आदि विषयों पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है। अनुमान (प्रत्यभिज्ञान) प्रमाण के अन्तर्गत उसका स्वरूप, व्याप्ति का स्वरूप, एकलक्षण का स्वरूप, हेतु का स्वरूप एवं उसके भेदादि का तुलनात्मक दृष्टि से विमर्श उपस्थित किया गया है। तत्पश्चात् अंत में आगम-श्रुत प्रमाण की चर्चा की गयी है। दर्शनान्तर सम्मत उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का परोक्ष प्रमाण में विभिन्न युक्तियोंपूर्वक अन्तर्भाव दिखाया गया है।

"प्रमाण का विषय, फल और प्रमाणाभास" के प्रतिपादन के लिए अध्याय षष्ठ रखा गया है। इसमें बताया गया है कि प्रमाण का विषय द्रव्य पर्यायात्मक, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त अर्थ, अनेकात्मक हैं। इसलिए प्रमाण के विषय की उपलब्धि एकान्तिक दृष्टि से नहीं की जा सकती। इस प्रसंग में बौद्धादि के गम्य स्वलक्षण, क्षणिकवाद, सन्तानवाद, नित्यवाद आदि की समीक्षा की गयी है। प्रमाणफल की चर्चा में यह सिद्ध किया गया है कि युगपत् सर्वावभासक ज्ञान-प्रमाण का फल उपेक्षा ; क्रमभावि ज्ञान-प्रमाण का फल उपेक्षा तथा हेय एवं उपादेय बुद्धि है तथा सभी ज्ञान-प्रमाण का फल अपने विषय में अज्ञान का नाश है। मति आदि ज्ञानों में साक्षात्फल और परम्परा फल के सयुक्तिक विवेचनपूर्वक अवग्रहादि भेदों की प्रमाणफल व्यवस्था बतायी गयी है। इसी अनुक्रम में प्रमाणपत्र के भिन्नत्व अभिन्नत्व पर विचार करने के साथ विभिन्न मतावलम्बियों की प्रमाणफल की व्यवस्था की समीक्षा की गयी है। प्रमाणाभास की चर्चा में प्रमाणाभास का स्वरूप, भेद, उनके आधार तथा अन्य मतावलम्बियों के मत को किस प्रमाणाभास के अन्तर्गत रखा जाय ; इत्यादि पर विचार किया गया।

अध्याय सप्तम "नयमीमांसा" में तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में सकलादेशी नय की परिभाषा पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों—ज्ञाता का अभिप्राय, वक्ता-श्रोता की स्थिति, नय के स्वरूप की ऐतिहासिक दृष्टि, सुनय-दुर्नय आदि पर विचार करके, नय

के भेदों पर विचार किया गया है। इसमें बताया गया है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के रूप में मूल नय दो ही है। परन्तु नयों का अर्थनय और शब्दनय के रूप में भी विभाजन किया जा सकता है। नैगमादि नयों को इन्हीं नय के मूल दो भेदों में विभक्त किया गया है। इस प्रसंग में अकलंक के इन कथन से कि "निश्चय और व्यवहार नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के आश्रित नय हैं" निश्चय और व्यवहार की समस्या का समाधान हो जाता है। इस अध्याय के द्रव्यार्थिक नय नामक द्वितीय परिच्छेद में द्रव्यार्थिक नय की व्युत्पत्ति, स्वरूप अर्थनय के रूप में उसकी मान्यता आदि के विचारपूर्वक इसके भेद, नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नयों की मीमांसा अन्य दर्शनों के साथ तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत की गयी है। "पर्यायार्थिक नय" नामक परिच्छेद तृतीय में पर्यायार्थिक नय की परिभाषा, उसके भेद, शब्दादि नयों को पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत रखने के कारण, शब्दादि नयों का स्वरूप आदि के प्रतिपादनपूर्वक इस अध्याय के अन्त में नयाभासों का भी विवेचन किया गया है।

प्रवचन अथवा आगम : "प्रमाणमीमांसा" नामक अष्टम अध्याय को दो परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। प्रथम परिच्छेद में प्रवचन का स्वरूप, उसकी प्रमाणता का आधार, विषयवस्तु, अधिगम के उपाय प्रमाण, नय, निक्षेप, श्रुत के उपयोग, प्रवचन का प्रयोजन एवं फल आदि के बारे में लिखा गया है।

मुख्य और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मति, श्रुति आदि के प्रत्यक्ष और परोक्षत्व आदि से सम्बन्धित अकलंक की कुछ ऐसी व्यवस्था थी, जिसके कारण प्रतीत होता है कि अकलंक को स्वतंत्ररूप में प्रवचनप्रवेश लिखना पड़ा। जिसमें उन्होंने परम्परा से प्राप्त चिन्तन को विवेचित किया है। इसमें उन्होंने कहा है कि सर्वज्ञ, सिद्ध, परमात्मा का अनुशासन ही प्रवचन है। आप्त की वाणी प्रवचन है। इस दृष्टि से प्रवचन या आगम की प्रमाणता का मुख्य आधार आप्त के गुण सिद्ध होते हैं। प्रवचन की यह परम्परा अनादिकालीन है और उसका विषय जीव-अजीवादि के अनेकान्तात्मक स्वरूप का प्रतिपादन है, जिसका प्रतिपादन स्याद्वादपद्धति से किया जाता है। उनके अधिगम के लिए प्रमाण, नय, निक्षेप आदि साधन के रूप में माने गये हैं। इन सभी का उक्त अध्याय के प्रथम परिच्छेद में प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में श्रुत के स्याद्वाद और नय के रूप में दो उपयोगों की चर्चा के साथ

अत्यन्त आवश्यक होने के कारण अनेकान्तवाद का भी प्रतिपादन किया गया है। तत्पश्चात् लघीयस्त्रय के प्रवचनप्रवेश के आधार पर स्याद्वाद, नय, श्रुत, नय के भेद, निक्षेप का स्वरूप भेद एवं उसका प्रयोजन, प्रवचन का फल एवं प्रवचन शास्त्र अभ्यास की विधि आदि का विवेचन किया गया है।

निःसन्देह जैन न्याय और दर्शन की पर्याय के रूप में अकलंक को यदि माना जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम जैन दर्शन में अन्य दर्शनों में विकसित दर्शन और न्याय के समान जैन न्याय और दर्शन को संस्कृतभाषा में निबद्ध कर लघीयस्त्रय जैसे महान् सूत्रात्मक ग्रंथों का प्रणयन किया। इन ग्रंथों में उन्होंने ही परम्परा से प्राप्त चिन्तन को युग के अनुरूप ढाँचे में ढालने के लिये सर्वप्रथम प्रमाण, प्रमेय, नय आदि की अकाट्य परिभाषायें स्थिर की तथा अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध न्याय और तर्कशास्त्र के ऐसे बीज जो जैन परम्परा में नहीं थे, स्वीकार कर उन्हें आगमिक रूप दिया।

अन्त में "उपसंहार" है, जिसमें भट्ट अकलंक द्वारा जैन न्याय और दर्शन के क्षेत्र में किये गये उनके अवदान का संक्षेप में उल्लेख करते हुए शोध के निष्कर्षों का समावेश किया गया है।

परिशिष्ट में सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एवं भट्ट अकलंक विषयक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध लेखों की सूची प्रस्तुत की गयी है।

भारतीय दर्शनों में ऐतिहासिक दृष्टि से जैन न्याय को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने वाले भट्ट अकलंक प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अपने तीन प्रकरणों वाले सूत्रशैली में निबद्ध लघु ग्रन्थ "लघीयस्त्रय" में जैन न्याय का तार्किक विवेचन किया है।

अकलंक और उनके लघीयस्त्रय विषयक उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम संक्षेप में कह सकते हैं कि लघीयस्त्रय भट्टाकलंक का एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है, जिस पर किया गया मेरा यह दार्शनिक अध्ययन एक लघु प्रयास है। हम समझते हैं कि जैन न्याय और दर्शन को समझने के लिए यही एक ग्रन्थ पर्याप्त है। अब आवश्यकता इस बात की है कि भट्ट अकलंक के ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा में प्रामाणिक अनुवाद हो जिससे संस्कृत न जानने वाले समीक्षक जैन न्याय और दर्शन का मूल्यांकन करके भारतीय न्यायशास्त्र के इतिहास में भट्ट अकलंक एवं उनके अवदान का निर्धारण कर सकें।

सारांश लेखक : डा० कपूरचंद जैन, सौजन्य श्रमण, वाराणसी

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

सप्तम सर्ग

जिनके ज्ञान रूपी क्षीर समुद्र के प्रवाह द्वारा यह पृथ्वी पवित्र बनी है और जो दन्तपंक्ति की भाँति शुभ्रवर्ण के थे ऐसे सुव्रत स्वामी जयवंत हों। ज्ञानियों के ज्ञान वर्द्धन के लिए निर्मल, मानो भगवती सरस्वती से ही प्राप्त हुआ हो, ऐसे उनके जीवन चरित्र का वर्णन करूँगा।

इस जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह में भरत नामक विजय में चम्पा नामक एक वृहद् नगरी थी। वहाँ दीर्घबाहु और अमित बलशाली इन्द्र-से सुरश्रेष्ठ राजत्व करते थे। वे चारों प्रकार से वीर थे अर्थात् दानवीर, रणवीर, आचारवीर और धर्मवीर। वे अपना रण कौशल युद्ध में नहीं युद्धाभ्यास के समय ही दिखा पाते थे कारण उनका आदेश ही राजाओं को वशीभूत कर देता था। यहाँ तक कि मौन व्रती मुनि भी उनके गुणगान में अपना मौन व्रत भंग कर देते थे।

एक बार मुनि नन्दन के चम्पा नगरी के उद्यान में पधारने पर वे उन्हें वन्दन करने गए। मिथ्यात्व रूप जंजाल को दूर करने में समर्थ उनकी देशना सुनकर वे संसार से विरक्त हो गए। अतः वे सुरश्रेष्ठ उनसे दीक्षित होकर सम्यक् चारित्र का पालन करने लगे। उन्होंने अर्हद् भक्ति और बीस स्थानक की उपासना कर तीर्थंकर गोत्र कर्म उपार्जन किया और मृत्यु के पश्चात् प्राणत नामक देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत होकर उन्होंने हरिवंश में जन्म ग्रहण किया। एतदर्थ प्रसंगवश हरिवंश का विवरण यहाँ दिया जाता है। वह इस प्रकार है—

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में वत्स देश के अलंकार स्वरूप कौशाम्बी नामक एक नगरी थी। वहाँ सुमुख नामक एक राजा राज्य करते थे। जिनके यश रूपी चन्दन से स्वर्ग का मुख भी चर्चित हुआ था। जंगल के अधिकार को जिस प्रकार सर्प लंघन नहीं करता उसी प्रकार राजाओं द्वारा उनका आदेश पालन किया जाता था फलतः वे वज्रपाणि इन्द्र की तरह पृथ्वी पर शासन करते थे। जो दाक्षिण्य के उपयुक्त होता उसे वे कोमल हृदयी पिता की भाँति

सहयोग देकर, जो उपहार से वशीभूत होने योग्य होता उसे प्रेतात्मा को वश में करनेवाले की तरह उपहार देकर, जो चतुर होते उन्हें चुम्बक जैसे लोहे को विभक्त करता है उसी भाँति उनमें भेद सृष्टिकर और जो अपराधी होते उन्हें द्वितीय दण्डपाणि की तरह दण्ड देकर वशीभूत रखते।

एक दिन मदन-सखा वसन्त का आविर्भाव होने पर वे क्रीड़ा करने उद्यान में गए। हाथी पर चढ़कर जाते समय उनकी दृष्टि जुलाहा वीर की पत्नी पद्मनयना वनमाला पर पड़ी। उसके स्फीत उन्नत वक्ष, पद्मनाल-सी कोमल बाहें, वज्र के मध्य भाग-सी कमर, नदी सैकत-से विस्तीर्ण नितम्ब, आवर्त-सी गंभीर नाभि, हस्ती सुण्ड-सी पुष्ट जंघा, कमल-सी रक्ताभ हथेलियाँ और पदतल एवं बंकिम भौंहे देखकर राजा का मन मदन द्वारा विचलित हो गया। उसके वस्त्र स्खलित होने पर भी उसने बाएँ हाथ से नितम्ब का वस्त्र और दाहिने हाथ से वक्षों के वस्त्रों को पकड़ रखा था। उसे इस अवस्था में देखकर राजा हस्ती की गति मन्द कर सोचने लगे—क्या यह स्वर्ग से आगत शापभ्रष्टा कोई अप्सरा है या वनलक्ष्मी स्वयं ही रूप धारण कर यहाँ आयी है या यह बसन्त श्री अथवा काम देव से वियुक्ता रति या नागकन्या है? अथवा यह रमणी रत्न है जिसे विधाता ने कौतूहल वश बनाया है।

ऐसा सोचकर राजा हाथी को अग्रसर न कर बार-बार वहीं घुमाने लगे मानों वे किसी की प्रतीक्षा कर रहे हों। राजा का मनोभाव जानने के लिए तब मंत्री ने उनसे पूछा—महाराज, हमारे परिजन आदि सभी उपस्थित हो गए हैं फिर बिलम्ब क्यों? मन्त्री की बात सुनकर बहुत कष्ट से स्वयं को संवरण कर वे वृहत् यमुनोद्वर्त उद्यान में गए। किन्तु आम्रमंजरी से सुशोभित आम्रवन, नवपल्लवों से सुशोभित अशोक कुंज, हवा से आन्दोलित कुसुम स्तवकों में लटके भ्रमर राजि, जिनके पत्रों ने पंखों का आकार ले लिया है ऐसा कदली वृक्ष, वसन्त लक्ष्मी की कर्णाभरण रूप कर्णिकार पुष्प या अन्य दर्शनीय सामग्री भी बनमाला की चिन्ता में निमग्न राजा को जरा भी आनन्द देने में समर्थ नहीं हुए। मंत्री सुमति राजा के मनोभावों को जानकर भी नहीं जानने का भान कर भाराक्रान्त हृदय से पूछने लगे—स्वामिन्, कोई मानसिक विक्षोभ या शत्रुकृत उद्वेग से आप का मन विषण्ण हुआ है? कारण इसके अतिरिक्त अन्य किसी कारण से राजाओं का मन विषण्ण नहीं होता। शत्रुकृत उद्वेग आपको हो नहीं सकता कारण आपके प्रताप से पृथ्वी आपके अधीन है। यदि कोई मानसिक विक्षोभ हुआ है और उसे बताने में कोई बाधा नहीं हो तो मुझे बताएँ।

राजा ने प्रत्युत्तर दिया, छलना का आश्रय नहीं लेने पर भी तुम्हारे प्रताप से शत्रु मेरे अधीन हैं। मेरे मानसिक विक्षोभ का भी तुम्हारे पास अवश्य ही निदान है—ऐसा मैं सोचता हूँ। अतः तुम्हे न बतलाने का तो कोई कारण ही नहीं है। मैं जब यहाँ आ रहा था तब राह में एक ऐसी रमणी को देखा जिसने समस्त रमणियों का सौन्दर्य चुरा लिया है। काम द्वारा आहत मेरा मन उसी के द्वारा आच्छन्न है। अतः मेरे मन में कोई खुशी नहीं है। अब इस प्रसंग में तुम कोई ऐसा उपाय करो जिससे मैं उसे प्राप्त कर सकूँ।

मंत्री ने कहा, राजन्, मैं उसे जानता हूँ। वह जुलाहा वीर की पत्नी है। उसका नाम वनमाला है। मैं शीघ्र ही उसे आपकी सेवा में उपस्थित करूँगा। अभी आप अनुचरों सहित प्रासाद को लौट जाएँ।

यह सुनकर राजा अस्वस्थ व्यक्ति की तरह पालकी पर चढ़े और वनमाला के विषय में सोचते हुए प्रासाद को लौट गए।

मन्त्री सुमति ने तब असम्भव को भी सम्भव करनेवाली चतुर परिव्राजिका आत्रेयी को वनमाला के पास भेजा। आत्रेयी तत्क्षण वनमाला के घर गयी और वनमाला द्वारा सम्मानित होकर आशीर्वाद देते हुए बोली, वत्से, शीत के आगमन से जैसे कमल म्रियमाण हो जाता है उसी प्रकार तुम्हें भी म्रियमाण देख रही हूँ। दिवस की चन्द्रकला की भाँति तुम्हारे कपोल पीले पड़ गए हैं। तुम्हारी दृष्टि में सूनापन है। तुम किस चिन्ता में निमग्न हो? पहले तो तुम मुझे अपनी सारी बातें बताती थी। तुम्हें क्या दुःख है वह अब मुझे क्यों नहीं बताती?

तब वनमाला दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुयी बोली, जो वस्तु मिल नहीं सकती उसके लिए आप से क्या कहूँ? एक ओर सामान्य गर्दभी और अन्य ओर अश्वरत्न उच्चैःश्रवा है, एक ओर सामान्य शृगाली, दूसरी ओर वनराज सिंह है, एक ओर सामान्य मादा गौरैया अन्य ओर पक्षीराज मयूर हैं! मैं एक सामान्य जुलाहा की पत्नी हूँ और जो मुझे प्रिय हैं वे मुझे अलभ्य हैं। भगवद् इच्छा से ऐसा मिलन कदाचित् सम्भव भी हो जाता है किन्तु नीच कुल में उत्पन्न मेरा मिलन उनसे होना स्वप्न में भी सम्भव नहीं है।

आत्रेयी बोली, वत्से, मैं तेरी इच्छा पूर्ण करूँगी। मन्त्र और वशीकरण से क्या सम्भव नहीं होता? तब वनमाला बोली, आज मैंने राजा को हाथी पर चढ़कर पथ पर जाते देखा। ऐसा लगा मानो स्वयं मदन ही वहाँ बैठा

हो। चन्दन प्रलेप-से सुखद उन्हें देखने के पश्चात् से प्रबल काम ज्वर मेरे समस्त शरीर में व्याप्त हो गया है। इस काम ज्वर के उपचार स्वरूप उनका मिलन तो तक्षक दंश की भाँति दुर्लभ है। अब मैं क्या करूँ आप ही बताइए?

यह सुनकर आत्रेयी बोली, मैं मन्त्रबल से देव, राक्षस, सूर्य, चन्द्र और विद्याधरों को भी पृथ्वी पर उतार सकती हूँ, यह तो सामन्य मनुष्य की कथा है। मुग्धे, कल सुबह ही मैं राजा के साथ तुम्हारा मिलन कराउँगी, नहीं तो जीवित ही अग्नि में जल मरूँगी। मुझ पर विश्वास रख।

इस प्रकार वनमाला को आश्वस्त कर परिव्राजिका मन्त्री सुमति के पास गयी और बोली, बस समझ लो राजा का मनोरथ पूर्ण हो गया है। मन्त्री ने भी राजा के पास जाकर उन्हें सान्त्वना दी। प्रिया को पाने की आशा भी आनन्ददायक होती है।

सुबह आत्रेयी वनमाला के घर गयी और बोली, राजा सुमुख मेरे प्रभाव से तेरे प्रति सदय हो गए हैं। अब चल मेरे साथ तुझे राजमहल पहुँचा दूँ। वहाँ रानी की तरह राजा के साथ इच्छानुसार रहना। तब वनमाला तैयार होकर आत्रेयी के साथ चली गयी। राजा तो कामासक्त थे ही अतः उसे अन्तःपुर में स्थान दे दिया।

अब राजा सुमुख वनमाला के साथ उद्यान में, नदी तट पर, सरोवर पर, गिरिशृंग पर बिहार कर यौवन सुख भोग करने लगे।

जुलाहा वीर ने घर आकर जब वनमाला को नहीं देखा तो उसे इधर-उधर खोजने लगा। किन्तु जब वह नहीं मिली तो उसकी अवस्था विक्षिप्त-सी हो गयी मानों वह भूताविष्ट हो गया हो या मदिरा पान किए हो। उसी अवस्था में वह इधर-उधर घूमने लगा। वह धूलधूसरित, पुराने मैले कपड़े पहने हुए, रूक्ष-शुष्क केश, दाढ़ी नाखून बढ़े हुए, ऐसी अवस्था में हाय वनमाला, तुम कहाँ हो? तुम कहाँ हो? चिल्लाता हुआ भटकने लगा। उसे पागल समझ कर शहर के लड़के-बच्चे भी उसके पीछे-पीछे चिल्लाते हुए घूमने लगे। वह कहने लगा—वनमाला, तुम एक बार दिख जाओ। तुमने मेरा परित्याग क्यों किया? मैंने क्या अपराध किया है? क्या तुम कौतुक वश कहीं छिप तो नहीं गयी हो? यदि ऐसा ही है तो इतने दिनों तक छिपकर रहना अच्छा नहीं है। कहीं तुम्हारे सौन्दर्य के कारण कोई राक्षस, यक्ष या

विद्याधर तो तुम्हें उठाकर नहीं ले गया ? इस प्रकार वह एक पथ से दूसरे पथ पर, त्रिराहों, चौराहों पर चिल्लाता हुआ दीन दरिद्र-सा घूमने लगा ।

एक दिन इसी प्रकार चिल्लाता हुआ बन्दर के पीछे-पीछे जैसे बच्चों का झुण्ड चलता है उसी प्रकार बालकों द्वारा अनुस्यूत होता राज महल के चौराहे पर पहुँच गया । यज्ञ स्थल परित्यक्त बासी माला पहने पिशाच जैसे उसे देखकर राजमहल के कर्मचारियों ने उसे घेर लिया । वहाँ का कोलाहल तालियों की ध्वनि सहित अन्तःपुर में अवस्थित राजा सुमुख के कानों में पहुँचा । क्या हो रहा है देखने के लिए राजा वनमाला सहित चौराहे पर आए । जब उन्होंने वीर को उसके उस परिवर्तित रूप में देखा—धूलिमय वस्त्र, शून्यमना, जनता द्वारा प्रताड़ित और वनमाला वनमाला तुम कहाँ हो कि चित्कार सुनी तो उनके मन में अनुशोचना जाग पड़ी । वे सोचने लगे—व्याध की भाँति हमने कैसा निष्ठुर कार्य किया है ? उस निश्छल को हमने प्रताड़ित किया है । जो भयंकर पाप हमने किया है ऐसा पाप तो भविष्य में शायद कोई नहीं करेगा । कारण हम पापियों में भी अधम हैं । हम विश्वास-घातकों से भी नीच हैं कारण हम उसकी जीवन्त मृत्यु का कारण बन गए है । धिक्कार है हम मन्द विवेकियों को जिन्होंने इन्द्रियों की तृप्ति के लिए ऐसा कार्य किया है । लगता है इस पाप के फलस्वरूप नरक में भी हमें स्थान नहीं मिलेगा । वे उच्चमना धन्य हैं जो स्व-इन्द्रियों को संयमित रख इन्द्रिय सुख से निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि यह परिणाम में दुःखदायक होता है । जो दिन-रात जिन वाणी का श्रवण और पालन करते हैं वे ही धन्य हैं कारण वे अन्यों के भी उपकारी होते हैं ।

जिस समय वे इस प्रकार पश्चाताप और धर्मरत जीवों की प्रशंसा कर रहे थे उसी समय सहसा विद्युत्पात से दोनों की मृत्यु हो गयी । दोनों का परस्पर प्रेम और शुभ भावना में मृत्यु होने के कारण वे हरिवर्ष में युगल रूप में उत्पन्न हुए । उनके माता-पिता ने उनका नाम रखा हरि और हरिणी । पूर्व जन्म की ही भाँति पति और पत्नी रूप में एक मुहूर्त के लिए भी वे विच्छिन्न नहीं होते थे । दस कल्पवृक्षों के द्वारा उनकी समस्त इच्छा पूर्ण होने लगी । अतः सुख भोग करते हुए वे देवों की तरह रहने लगे ।

राजा और वनमाला की वज्राघात से मृत्यु हो जाने के पश्चात् वीर ने कठोर अज्ञान तप किया और मृत्यु के पश्चात् सौधर्म देवलोक के किल्विषक देव रूप में जन्म ग्रहण किया । अवधि ज्ञान से जब उसे अपना पूर्व भव और

हरि-हरिणी के विषय में ज्ञात हुआ तब क्रोध से आँखे लाल कर यम की भाँति भृकुटि ताने उन्हें मारने के लिए हरिवर्ष गया। किन्तु वहाँ जाकर उसने सोचा यहाँ इनकी हत्या करने से क्षेत्र के कारण मृत्यु के पश्चात् ये स्वर्ग में उत्पन्न होंगे, इससे मेरा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। अतः मैं अपने इन पूर्व जन्म के शत्रुओं को अन्य क्षेत्र में ले जाऊँ ताकि वहाँ विविध कष्टों को भोग कर ये अकाल मृत्यु को प्राप्त हों।

ऐसा सोचकर वह देव कल्पवृक्ष सहित उनका अपहरण कर भरत क्षेत्र की चंपा नगरी में ले गया। ठीक उसी समय वहाँ के इक्ष्वाकु वंशीय राजा चन्द्रकीर्ति की मृत्यु हो गयी। उनके कोई पुत्र नहीं था। योगीगण जिस प्रकार आत्मा का अनुसन्धान करते हैं उसी प्रकार वहाँ के मंत्री योग्य राजा का अनुसन्धान करने लगे। देवऋद्धि सहित वही देव उस समय आलोक पुंज की भाँति आकाश में स्थित होकर उन्हें बोला, हे राज्य के मंत्री, उपदेशक और सामन्तगण, सुनो, सुनो, आपके राजा अपुत्रक अवस्था में मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं। इसलिए आप योग्य राज्याधिकारी खोज रहे हैं। आप लोगों के शुभ भाग्योदय से आपकी चिन्ता दूर करने के लिए मैं हरिवर्ष से आप लोगों पर शासन करने में समर्थ युगलिक हरि और हरिणी को ले आया हूँ। ये पति-पत्नी हैं। इनके खाद्य के लिए मैं यह कल्पवृक्ष भी ले आया हूँ। श्रीवत्स, मत्स्य, कुम्भ, वज्र और अंकुश चिह्न से युक्त कमल नयन हरि तुम लोगों का राजा बने। इन्हें कल्पवृक्ष के फल और पशु-पक्षियों का मांस खिलाना और मदिरा पान करवाते रहना।

ऐसा ही होगा कहते हुए उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली और उन्हें रथ में बैठाकर राजमहल ले गए। वहाँ सामन्तों ने हरि को राज्य सिंहासन पर बैठाया। पुरोहित, भाट और गायकों ने मंगलगान किया। उस देव ने स्व-शक्ति से उनका आयुष्य कम कर दिया और ५०० धनुष की उच्चता कम कर दी। हरि भगवान शीतलनाथ स्वामी के तीर्थकाल में राजा हुए थे और उनसे पृथ्वी पर हरिवंश का प्रवर्तन हुआ।

हरि ने समुद्र-मेखला पृथ्वी को जीत लिया और श्री जैसी सुन्दरी अनेक राजकन्याओं से विवाह किया। कुछ दिनों पश्चात् हरि और हरिणी के पृथ्वी-पति नामक एक वृषस्कन्ध पुत्र हुआ। मांसादि आहार और मदिरा पानादि पाप के कारण हरि और हरिणी की मृत्यु हो गयी और उनका पुत्र पृथ्वीपति राजा बना। बहुत दिनों तक राज्य करने के पश्चात् वे अपने पुत्र महागिरि

को सिंहासन पर बैठाकर तपस्या करते हुए मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग गमन किया। महागिरि ने भी अपने पुत्र हिमगिरि को सिंहासन पर बैठाकर दीक्षा ग्रहण कर ली और मृत्यु के पश्चात् मोक्ष प्राप्त किया। हिमगिरि ने अपने पुत्र वसुगिरि को सिंहासन पर बैठाकर श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली और मृत्यु के पश्चात मोक्ष गए। वसुगिरि भी स्व-पुत्र गिरिको सिंहासन पर बैठाकर दीक्षित हो गए और कर्मक्षय कर मृत्यु के पश्चात् मोक्ष को प्राप्त किया। गिरि अपने पुत्र मित्रगिरि को सिंहासन पर बैठाकर श्रमण दीक्षा ग्रहण कर मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग गमन किया। इस प्रकार हरिवंश में बहुत राजा हुए। कठोर तपश्चर्या के कारण उनमें कोई स्वर्ग, कोई मोक्ष को प्राप्त हुए।

इसी भरत क्षेत्र में पृथ्वी की स्वस्तिक तुल्य मगध देश की अलंकार रूपा राजगृह नामक एक नगरी थी। वहाँ के प्रति गृह में तरुण-तरुणियों के प्रणय व्यापार में मुक्ता-मालाओं के छिन्न हो जाने के कारण इतने मोती बिखर जाते थे कि प्रभात समय परिचारिकाएँ सम्मार्जनी से उन्हें बुहारती थी। वहाँ प्रतिगृह में अश्व थे, प्रतिगृह में दानशाला, चित्रशाला और नाट्यशाला थी। मरालों के लिए जिस प्रकार सरोवर, भ्रमरों के लिए पुष्पदाम, उसी प्रकार मुनियों की सेवा के लिए भी वहाँ प्रबन्ध था।

[क्रमशः

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

अनेकान्त ।। अप्रैल-जून १९९१

इस अंक में है 'तत्वार्थवार्तिक में प्रयुक्त ग्रंथ' (डॉ' रमेशचन्द्र जैन), 'जिनसेन के अनुसार ऋषभदेव का योगदान' (एम. एल. जैन), 'वसुनन्दिकृत उपासकाध्ययन में व्यसनमुक्ति वर्णन' (राम मिश्र), 'नियमसार का समालोचनात्मक सम्पादन' (डॉ. ऋषभचन्द्र जैन), 'अहार का शान्तिनाथ प्रतिमा लेख' (डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन'), 'धवल पु०४ का शुद्धिपत्र' (जवाहरलाल वकतावत), 'गूजरी महल, ग्वालियर में संरक्षित शान्तिनाथ की प्रतिमाएँ' (नरेश कुमार पाठक), 'केवल उपादान को नियामक मानना एकान्तवाद है' (पं. मुन्नालाल जैन), 'अपरिग्रही ही आत्मदर्शन का अधिकारी' (पद्मचन्द्र शास्त्री) ।

णाणसायर ।। मार्च १९९१

'शाकाहार : स्वस्थ जीवन का आधार' (रतनचन्द्र जैन), 'अजीव तत्व : एक तुलनात्मक विवेचन' (कमला जोशी), 'देवपूजा और सहजानन्द वर्णी की मौलिक अभिव्यक्ति' (कस्तूरचन्द कासलीवाल), 'कुन्दकुन्दाचार्य कृत अष्टपाहुड़ में रासायनिक तथ्य' (डॉ. नन्दलाल जैन), 'अष्ट पाहुड़ : श्रमणचर्या की चौकसी' (डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया), 'दर्शन पाहुड़ : एक चिन्तन' (डॉ. कस्तूर चन्द्र 'सुमन'), 'सहजानन्द और सहजानन्दघन—एक संस्मरण' (भँवरलाल नाहटा), 'विदेह विद्यमान बीस तीर्थंकरों के चिह्न—एक खोज' (कुन्दनलाल जैन), 'आत्म अपराध का कर्म सिद्धान्त' (डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल), 'जैन तत्वज्ञान और पर्यावरण संतुलन' (डॉ. अर्हद्दास बी. दिगे), 'पू० सहजानन्दजी द्वारा दी गई अनुपम दार्शनिक विद्या की विरासत' (पं० दलसुख मालवणिया), 'आचार्य कुन्दकुन्द : शिलालेखों के परिप्रेक्ष्य में' (डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी), 'प्रभामण्डल का वैज्ञानिक कारण' (डॉ. नीलम जैन)।

जैन जर्नल ।। अप्रैल १९९१

इस अंक में है 'Observation on Gommata, Gommataraya and Gommatadeva' (B. K. Khadabadi), 'The Creator' (Ashutosh Jindal), 'Views of Jainism in Sikh Scriptures' (Sushil Jain), 'Power and Tranquility—A Profile of

Jaina Martial Class of Karnataka' (Vasantha Kumari), 'Idendification of Some Rsis as Depicted in Sutra Kritanga' (Arun Pratap Singh).

श्रमण ।। जनवरी-मार्च १९९१

इस अंक में है 'जैन धर्म के धार्मिक अनुष्ठान एवं कलातत्व' (प्रो. सागरमल जैन), 'जैन श्रमण साधना : एक परिचय' (डॉ. सुभाष कोठारी), 'तीर्थंकर महावीर जन्मना ब्राह्मण या क्षत्रिय' (सौभाग्यमल जैन), 'समयसार के अनुसार आत्मा का कर्तृत्व-अकर्तृत्व एवं भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व' (श्री प्रकाश पाण्डेय), 'भरत मुनि द्वारा प्राकृत को संस्कृत के साथ प्रदत्त सम्मान और गौरवपूर्ण स्थान' (के. आर. चन्द्र), 'पाण्डव पुराण में राजनैतिक स्थिति' (रीता विश्नोई), 'इषुकारीय अध्ययन एवं शान्ति पर्व का पिता-पुत्र संवाद' (डा. अरुण प्रताप सिंह), 'जैन भाषा दर्शन की समस्याएँ' (रचनारानी पाण्डेय), 'उपदेशमाला —धर्मदास गणि : एक समीक्षा' (दीननाथ शर्मा)।

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

GOLAGHAT ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : 3039, 3174

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

Main Office :

4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 38-5960

Branch Office :

Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 5378
5578,5778

WB/NC-253

Vol. XV No. 5 **TITTHAYARA** **September 1991**

Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 24582/73